LEARN GEETA
तस्मात् योगी भवार्जुन

॥ श्रीहरिः ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् |
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ||

॥ गीता पढ़ें, पढ़ायें, जीवन में लायें ॥

|| श्रीमद्भगवद्गीता विवेचन सारांश ||

अध्याय 18: मोक्षसंन्यासयोग

6/6 (श्लोक 63-78), शनिवार, 16 मई 2026

विवेचक: गीता विशारद डॉ. संजय जी मालपाणी

यूट्यूब लिंक: https://youtu.be/eTJ1iWXRHL0

श्रेष्ठ भक्ति सन्देश

आज के इस दिव्य सत्र का आरम्भ अत्यन्त पवित्र एवं अलौकिक वातावरण में सुमधुर प्रार्थना, श्रद्धापूर्ण हनुमान चालीसा पाठ, दीप प्रज्ज्वलन, भगवान् श्रीकृष्ण तथा पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों में समर्पित वन्दना से हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता का प्रत्येक अध्याय मानव जीवन को श्रेष्ठता की ओर ले जाने वाला प्रकाश स्तम्भ है। गीता केवल एक धार्मिक ग्रन्थ नहीं, अपितु सम्पूर्ण जीवन का व्यावहारिक मार्गदर्शन है। मानव अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए किस प्रकार समत्व, शान्ति और सार्थकता के साथ जीवन व्यतीत कर सकता है, इसका अद्भुत उपदेश गीता में प्राप्त होता है। गीता का ज्ञान केवल श्रवण अथवा पठन तक सीमित न रहे अपितु वह जीवन के प्रत्येक आचरण में प्रकट हो, यही वास्तविक साधना है, यही आत्मविकास का पथ है।

अट्ठारहवें अध्याय **"मोक्षसंन्यासयोग"** के छठे सत्र तक पहुँचते-पहुँचते यह गीता यात्रा अपने पूर्णत्व की ओर अग्रसर हो चुकी है। साधना का पथ सदैव क्रमशः विकसित होता है। प्रारम्भ में शिष्य ज्ञान ग्रहण करता है, तत्पश्चात् मनन करता है फिर उस ज्ञान को जीवन में धारण करता है। साधना की परिपक्वता का सर्वोच्च क्षण वही होता है, जहाँ शिष्य का जीवन स्वयं प्रेरणा का स्रोत बन जाता है। उसी अवस्था में शिष्य गुरु तत्त्व का स्पर्श करता है।

आज का अवसर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अट्ठारह अध्यायों की यह यात्रा केवल शास्त्र अध्ययन नहीं रही अपितु आत्मा के उत्कर्ष की साधना बन चुकी है। प्रत्येक साधक उस अन्तिम सोपान के समीप खड़ा है, जहाँ से आत्मानुभूति की दिशा में निर्णायक कदम उठाना है। केवल शास्त्र पढ़ लेने मात्र से सिद्धि प्राप्त नहीं होती। जीवन में अनुभव का अवतरण आवश्यक होता है। ज्ञान को व्यवहार में उतारने का साहस ही साधना की वास्तविक छलाँग है।

नदी पार करने के लिए नाव आवश्यक होती है। नाव साधन है, साध्य नहीं। यात्रियों को दूसरे तट तक पहुँचाने के पश्चात् अन्तिम चरण स्वयं उतरकर पूर्ण करना पड़ता है। यही उतरना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आध्यात्मिक जीवन में भी यही सत्य लागू होता है। मनुष्य का अहङ्कार, उसका अभिमान, उसकी **'मैं'** की भावना, यही वे बन्धन हैं, जो उसे परम सत्य से दूर रखते हैं। अहङ्कार का क्षय होते ही भीतर विनम्रता प्रकट होती है और विनम्रता के साथ गुरु तत्त्व का उदय होने लगता है।

गुरु पद किसी बाहरी उपाधि का नाम नहीं है। गुरु वह है, जिसका जीवन स्वयं प्रकाश बन जाये। जिसका आचरण दूसरों के लिए प्रेरणा बन जाये; जिसकी वाणी में करुणा, दृष्टि में समत्व और हृदय में निष्काम प्रेम प्रवाहित हो। गीता का अध्ययन साधक को इसी ऊँचाई तक ले जाने का प्रयास करता है।

अट्ठारहवें अध्याय में **श्रीभगवान्** ने सम्पूर्ण गीता का सार अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है। कर्म, ज्ञान, भक्ति, त्याग, संन्यास, स्वधर्म, श्रद्धा, गुण, बुद्धि, धृति तथा मोक्ष, इन सभी गूढ़ विषयों का अन्तिम निष्कर्ष इसी अध्याय में समाहित है। मानव को यह शिक्षा प्राप्त होती है कि जीवन का परम उद्देश्य केवल बाहरी उपलब्धियाँ नहीं अपितु आत्मा की मुक्ति और परमात्मा की प्राप्ति है।

श्रीभगवान् अर्जुन को यह बोध कराते हैं कि मनुष्य अपने स्वभावानुकूल कर्म करते हुए भी परम सिद्धि प्राप्त कर सकता है। निष्काम भाव से किया गया कर्म ही साधना बन जाता है। फल की आसक्ति त्यागकर कर्त्तव्य का पालन करना ही कर्मयोग की पराकाष्ठा है।

मोक्षसंन्यास का सन्देश अत्यन्त गम्भीर एवं व्यावहारिक है। संसार का त्याग करने की अपेक्षा आसक्ति का त्याग अधिक आवश्यक है। बाहरी वस्तुओं का परित्याग सरल हो सकता है किन्तु भीतर छिपे अहङ्कार, कामना और मोह का विसर्जन ही वास्तविक संन्यास है।

गीता का अन्तिम उपदेश सम्पूर्ण समर्पण का है। साधक अपने समस्त भय, संशय और भ्रम को भगवान् के चरणों में अर्पित कर दे, यही मोक्ष का द्वार है। श्रद्धा, विश्वास और समर्पण के साथ किया गया जीवन-यापन साधक को परम शान्ति प्रदान करता है।

यह गीतायात्रा किसी अन्त का सङ्केत नहीं अपितु एक नये जीवन का शुभारम्भ है। अध्ययन की पूर्णता तभी सार्थक होगी जब गीता का प्रत्येक उपदेश व्यवहार में झलकेगा। वाणी में मधुरता, कर्म में पवित्रता, विचारों में निर्मलता तथा हृदय में करुणा का उदय होने लगे, तभी गीता का ज्ञान जीवित माना जाएगा।

साधना का वास्तविक फल बाहरी प्रशंसा नहीं अपितु भीतर की शान्ति है। आत्मा का प्रकाश जब जागृत होता है तब जीवन स्वयं ही ईश्वर की ओर प्रवाहित होने लगता है। यही गीता का सार है, यही गुरु कृपा का परम प्रसाद है।

18.63

इति ते ज्ञानमाख्यातं(ङ्), गुह्याद्गुह्यतरं(म्) मया।
विमृश्यैतदशेषेण, यथेच्छसि तथा कुरु॥18.63॥

यह गुह्य से भी गुह्यतर (शरणागति रूप) ज्ञान मैंने तुझे कह दिया। (अब तू) इस पर अच्छी तरह से विचार करके जैसा चाहता है, वैसा कर।

विवेचन- श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि आत्मसमर्पण, भक्ति और परमात्मा की शरणागति का यह अत्यन्त गूढ़ तथा गुह्यतम ज्ञान मैंने तुम्हें पूर्ण रूप से बता दिया है। जीवन, कर्म, धर्म, ज्ञान और मोक्ष से सम्बन्धित समस्त रहस्यों का उद्घाटन कर दिया गया है।

उपदेश देने के पश्चात् श्रीभगवान् अर्जुन पर किसी प्रकार का दबाव नहीं डालते। निर्णय का अधिकार अर्जुन को ही सौंप देते हैं। यही गीता की महानता है। यहाँ अन्धानुकरण नहीं अपितु विवेकपूर्ण चिन्तन का मार्ग दिखाया गया है।

श्रीभगवान् का सन्देश स्पष्ट है कि अब इस ज्ञान पर गम्भीरतापूर्वक मनन करो, सत्य को हृदय से समझो और तत्पश्चात् अपनी अन्तःप्रेरणा तथा विवेक के अनुसार निर्णय लो।

गीता मनुष्य को केवल आदेश नहीं देती, अपितु उसे जागृत, सजग और आत्मनिर्णय में समर्थ बनाती है।

18.64

सर्वगुह्यतमं(म्) भूयः(श्), शृणु मे परमं(म्) वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति, ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥18.64॥

सबसे अत्यन्त गोपनीय सर्वोत्कृष्ट वचन (तू) फिर मुझसे सुन। तू मेरा अत्यन्त प्रिय है, इसलिये यह (विशेष) हित की बात (मैं) तुझे कहूँगा।

विवेचन- श्रीभगवान् अर्जुन से अत्यन्त करुणा और स्नेहपूर्ण भाव से कहते हैं कि अब तू मुझसे सबसे गुप्त और सर्वश्रेष्ठ वचन पुनः सुन। श्रीमद्भगवद्गीता में अनेक प्रकार के योग, ज्ञान, कर्म, भक्ति और आत्मतत्त्व का उपदेश देने के पश्चात् अब श्रीभगवान् अर्जुन को अपने हृदय का सार प्रदान कर रहे हैं।

यह उपदेश केवल शास्त्रीय ज्ञान नहीं, अपितु प्रेम और आत्मीयता से उपजा दिव्य सन्देश है। श्रीभगवान् अर्जुन को स्मरण कराते हैं कि वे उनके अत्यन्त प्रिय हैं इसलिये वे उनके परम हित की बात कह रहे हैं कि जीवन का वास्तविक कल्याण परमात्मा की शरण, श्रद्धा, समर्पण और निष्काम भाव में ही है। यही श्रीमद्भगवद्गीता का सार है और इसमें ही मानव जीवन का परम हित है।

18.65

मन्मना भव मद्भक्तो, मद्याजी मां(न्) नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं(न्) ते, प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥18.65॥

(तू) मेरा भक्त हो जा, मुझमें मनवाला (हो जा), मेरा पूजन करने वाला (हो जा और) मुझे नमस्कार कर। (ऐसा करने से तू) मुझे ही प्राप्त हो जायगा - (यह मैं) तेरे सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; (क्योंकि तू) मेरा अत्यन्त प्रिय है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं **"मन्मना",** यह शब्द अत्यन्त गूढ़ है। सामान्य दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हों-

"मेरा चिन्तन करो।"

इस वचन का वास्तविक अर्थ इससे कहीं अधिक गम्भीर और व्यापक है। "मन्मना" का तात्पर्य केवल किसी मूर्ति, नाम अथवा रूप का स्मरण भर नहीं है। इसका वास्तविक सङ्केत उस परम तत्त्व को अपने अन्तःकरण में पूर्ण रूप से धारण कर लेना है।

मनुष्य जिस तत्त्व का निरन्तर चिन्तन करता है, धीरे-धीरे उसी के स्वरूप में ढलने लगता है। अग्नि के समीप रखा लोहा अग्नि के समान दहकने लगता है। उसी प्रकार साधक जब अपने मन को परमात्मा में स्थिर कर देता है, तब उसका सीमित अहं धीरे-धीरे गलने लगता है और भीतर छिपा दिव्य स्वरूप प्रकट होने लगता है।

"मद्भक्तो"

अर्थात् उस परम सत्य का भक्त बन जा। यहाँ **"मद्"** शब्द को केवल व्यक्तिगत अहं के रूप में नहीं समझना चाहिए। सम्पूर्ण भगवद्गीता मनुष्य को **'मैं'** और **'मेरा'** की सङ्कीर्ण सीमाओं से बाहर निकालने के लिए कही गई है। प्रथम अध्याय में अर्जुन बार-बार कह रहा था- **"मेरे बन्धु, मेरे गुरु, मेरे सम्बन्धी।"** उसी मोह को तोड़ने के लिए भगवान् सम्पूर्ण गीता का उपदेश देते हैं। अन्त में जब **श्रीभगवान्** कहते हैं-

"माम् नमस्कुरु"-

इसका आशय यह नहीं कि **श्रीभगवान्** किसी व्यक्तिगत प्रशंसा की इच्छा रखते हैं। यहाँ **"माम्"** का सङ्केत उस परम चेतना की ओर है जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। उस परम सत्ता के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही वास्तविक नमस्कार है। केवल हाथ जोड़ लेना नमस्कार नहीं है। वास्तविक प्रणाम वह है जहाँ अहङ्कार झुक जाए, **'मैं'** मिट जाये और भीतर केवल विनम्रता शेष रह जाये। श्रीभगवान् आगे कहते हैं—
"मामेवैष्यसि सत्यं ते।"

यह प्राप्ति मृत्यु के पश्चात् मिलने वाला कोई दूरस्थ फल नहीं है। यह अनुभव जीवन में इसी क्षण, जीते-जी घटित हो सकता है। साधना का उद्देश्य मृत्यु के बाद स्वर्ग प्राप्त करना नहीं अपितु जीवन में ही परमात्मा की उपस्थिति का अनुभव करना है।

पूजा और ध्यान का वास्तविक अर्थ भी यही है। साधक जब प्रार्थना में बैठता है, उस समय उसका सम्पूर्ण अस्तित्व उसी साधना में विलीन हो जाना चाहिये। बाहरी संसार, मोबाइल, चिन्ताएँ, योजनाएँ, ये सब द्वितीय हो जायें और परमात्मा ही एकमात्र केन्द्र बन जायें।

अष्टाङ्गयोग में भगवान् पतञ्जलि ने **"धारणा"** का अत्यन्त महत्त्व बताया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार के पश्चात् धारणा आती है; फिर ध्यान और समाधि की अवस्था प्रकट होती है।

धारणा का अर्थ है-

अपने भीतर घट रही घटनाओं का साक्षी बन जाना। साधक अपनी श्वास को देखता है। श्वास भीतर जा रही है, बाहर आ रही है। वह केवल देखता है। वह श्वास को नियन्त्रित नहीं करता, केवल उसका निरीक्षण करता है। धीरे-धीरे उसे अनुभव होने लगता है कि श्वास का स्पर्श कैसा है, उसका प्रवाह कैसा है, शरीर के भीतर उसकी गति कैसी है।

इसी प्रकार साधक अपने हृदय की धड़कनों को सुनने का प्रयास करता है। श्रीभगवान् ने कहा है कि परमात्मा प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित है। आँखें बन्द करके भीतर उतरने पर हृदय की सूक्ष्म धड़कनें भी अनुभव होने लगती हैं। उस समय साधक कुछ करता नहीं, केवल साक्षी बनकर देखता है।

संवेदनाओं का निरीक्षण भी धारणा का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। शरीर में खुजली, पीड़ा, कम्पन, जड़ता अथवा चींटी चलने जैसी अनुभूतियाँ उत्पन्न होती हैं। सामान्य अवस्था में मनुष्य तुरन्त प्रतिक्रिया करता है। साधना में साधक केवल देखता है। वह शरीर को हिलाता नहीं। कुछ क्षणों के भीतर वही संवेदनाएँ अपने आप समाप्त होने लगती हैं।

इस अनुभव से एक महान् सत्य प्रकट होता है-
अधिकांश पीड़ाएँ हमारी प्रतिक्रिया से बढ़ती हैं; साक्षीभाव उन्हें स्वतः क्षीण कर देता है।

विचारों का निरीक्षण साधना का अगला चरण है। विचारों को न रोकना है, न उनका स्वागत करना है। उन्हें केवल आते-जाते देखना है। धीरे-धीरे विचारों का प्रवाह मन्द होने लगता है। दो विचारों के मध्य एक सूक्ष्म रिक्ति उत्पन्न होती है। वही शून्य ध्यान का द्वार है। वही स्थान परमात्मा का आसन बन जाता है।

भक्तिमार्ग का ध्यान अत्यन्त सरल और मधुर है। साधक अपने भीतर विराजमान श्रीभगवान् से संवाद करता है। वह अनुभव करता है कि परमात्मा उससे पृथक नहीं हैं। वही परम चेतना उसके भीतर धड़क रही है।

इस अनुभव को शब्दों में पूर्णतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार एक शिशु अपनी माता की गोद का अनुभव शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार साधक भी ध्यान में प्राप्त होने वाले परम आनन्द का वर्णन नहीं कर सकता।

ध्यान का सत्य, अनुभव किया जाता है, समझाया नहीं जाता। शब्द केवल सङ्केत कर सकते हैं; अनुभूति तो साधक को स्वयं करनी पड़ती है।

"मां नमस्कुरु" का वास्तविक अर्थ भी यही है- **पूर्ण समर्पण।**
औपचारिकता से किया गया प्रणाम साधना नहीं बनता। एक क्षण का सच्चा आत्मसमर्पण वर्षों की औपचारिक पूजा से अधिक प्रभावशाली हो सकता है।

श्रीभगवान् "भाव" के भूखे हैं। श्रद्धा, प्रेम और निष्कपट समर्पण जहाँ प्रकट होता है, वहाँ परमात्मा की कृपा स्वतः प्रवाहित होने लगती है। भक्तों की कथाओं में बार-बार यही सत्य दिखाई देता है कि प्रेम के आह्वान पर श्रीभगवान् स्वयं दौड़े चले आते हैं।

"प्रतिजाने प्रियोऽसि मे"-

श्रीभगवान् कहते हैं- **"तू मुझे प्रिय है।"**
यह केवल सान्त्वना नहीं, अपितु परम आश्वासन है। साधक एक कदम प्रेम से बढ़ाता है, परमात्मा सौ कदम कृपा से आगे बढ़ते हैं।

श्रद्धा के बिना यह अनुभव सम्भव नहीं।

"श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्" ।।4.39।।

श्रद्धा के बिना यह अनुभव सम्भव नहीं। यहाँ ज्ञान का अर्थ केवल बौद्धिक जानकारी नहीं, अपितु आत्मानुभूति है। पुस्तकों से विज्ञान

प्राप्त हो सकता है, किन्तु ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब साधक स्वयं भीतर उतरता है।

ध्यान की साधना धीरे-धीरे विकसित होती है। प्रारम्भ में मनुष्य कुछ क्षण ही स्थिर बैठ पाता है। अभ्यास के साथ वही क्षण बढ़ते जाते हैं। एक समय ऐसा आता है जब साधक समय का बोध ही भूल जाता है। वहाँ केवल श्रीभगवान् रह जाते हैं और वही एकत्व की अनुभूति गीता का परम रहस्य है।

अन्ततः श्रीभगवान् कहते हैं-

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।"

इसका अर्थ बाहरी कर्त्तव्यों का त्याग नहीं, अपितु अहङ्कार, भय, मोह और आसक्ति का विसर्जन है। सम्पूर्ण समर्पण ही मोक्ष का द्वार है। वहीं से वास्तविक शान्ति, प्रेम और परमात्मा की अनुभूति प्रारम्भ होती है।

18.66

सर्वधर्मान्परित्यज्य, मामेकं(म्) शरणं(म्) व्रज।
अहं(न्) त्वा सर्वपापेभ्यो, मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥18.66॥

सम्पूर्ण धर्मों का आश्रय छोड़कर (तू) केवल मेरी शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, चिन्ता मत कर।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता का यह परम उपदेश सम्पूर्ण गीताजी का सारतत्त्व है। सम्पूर्ण संवाद का निष्कर्ष इसी श्लोक में समाहित हो जाता है। श्रीभगवान् अर्जुन को केवल युद्ध की प्रेरणा नहीं दे रहे, अपितु जीवन के परम रहस्य का उद्घाटन कर रहे हैं।

"सर्वधर्मान्परित्यज्य"

इसका अर्थ बाह्य कर्त्तव्यों का त्याग करना नहीं है। गृह, समाज, राष्ट्र अथवा परिवार के उत्तरदायित्वों से पलायन श्रीमद्भगवद्गीता का सन्देश कभी नहीं रहा। श्रीभगवान् अर्जुन से युद्धभूमि छोड़ने के लिए नहीं कहते। धनुष त्यागने का आदेश नहीं देते। युद्ध से विमुख होने का समर्थन नहीं करते।

धर्म शब्द का एक अत्यन्त गम्भीर अर्थ **"कर्त्तव्य"** भी है। मनुष्य जीवन में अनेक प्रकार के कर्त्तव्य निभाता है- पुत्र का कर्त्तव्य, पिता का कर्त्तव्य, गुरु का कर्त्तव्य, राजा का कर्त्तव्य, सैनिक का कर्त्तव्य। इन सबके मध्य मनुष्य प्रायः मोह, भय, स्वार्थ और फलासक्ति में उलझ जाता है। श्रीभगवान् उसी आसक्ति का त्याग करने का उपदेश देते हैं।

अर्जुन का शोक अपने स्वजनों की मृत्यु से जुड़ा हुआ था। गुरुजनों, पितामहों और सम्बन्धियों के वध की कल्पना से उनका हृदय काँप उठा था। उनके भीतर यह भय था कि इस युद्ध का पाप उन्हें भोगना पड़ेगा। श्रीभगवान् उसी भ्रम का निवारण करते हैं।

धर्म की रक्षा के लिए किया गया कर्म पाप नहीं बनता। अन्याय, अत्याचार और अधर्म के विनाश हेतु उठाया गया शस्त्र केवल हिंसा नहीं, धर्मसंरक्षण का माध्यम बन जाता है। अर्जुन का युद्ध व्यक्तिगत द्वेष के कारण नहीं था। राज्यलिप्सा उनका उद्देश्य नहीं थी। प्रजा की रक्षा, धर्म की स्थापना तथा अधर्म के विनाश के लिए वे युद्धभूमि में उपस्थित थे।

कर्त्तव्यभाव से किया गया कर्म मनुष्य को बाँधता नहीं। न्यायाधीश अपराधी को दण्ड देता है किन्तु उस दण्ड का पाप न्यायाधीश को नहीं लगता। राष्ट्र की सुरक्षा हेतु सैनिक युद्ध करता है, शत्रु का वध करता है, किन्तु वह हत्या का भागी नहीं बनता। उसका कर्म राष्ट्रधर्म की रक्षा के लिए होता है।

श्रीभगवान् इसी सत्य को अर्जुन के सम्मुख स्पष्ट करते हैं। अर्जुन को युद्ध करने का आदेश दिया जाता है, किन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है कि उस कर्म में **'मैं' और 'मेरा'** का भाव न रहे। विजय मेरी हो, राज्य मेरा हो, सुख मेरा हो, यह अहङ्कार ही बन्धन का कारण बनता है।

दूसरे अध्याय में श्रीभगवान् ने कहा था—

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।"

अर्थात् रणभूमि में वीरगति प्राप्त होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होगी और विजय प्राप्त होने पर पृथ्वी का राज्य एवं सम्मान प्राप्त होगा। धर्मयुद्ध में किया गया पराक्रम आत्मा को पतन की ओर नहीं ले जाता।

अट्ठारहवें अध्याय में वही शिक्षा और अधिक गहन रूप में प्रस्तुत होती है। **"सर्वधर्मान्परित्यज्य"** का आशय कर्मों के फल की आसक्ति का त्याग है। कर्त्तव्य करते हुए भी भीतर से निष्काम हो जाना ही गीता का वास्तविक सन्देश है।

"मामेकं शरणं व्रज"-

सम्पूर्ण समर्पण का दिव्य आह्वान है। मनुष्य अपने सीमित अहङ्कार, अपने भय, अपनी बुद्धि और अपनी सङ्कीर्ण इच्छाओं से ऊपर उठकर परमात्मा की शरण ग्रहण करे। जीवन का प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण हो जाए। वही कर्मयोग की पराकाष्ठा है।

शरणागति का अर्थ दुर्बलता नहीं, अपितु परम विश्वास है। साधक अपने जीवन का भार श्रीभगवान् को सौंप देता है। उसके भीतर यह दृढ़ अनुभूति जागृत हो जाती है कि परमात्मा ही सर्वशक्तिमान, सर्वाधार और जीवन का वास्तविक नियन्ता है।

"मामनुस्मर युध्य च"-

श्रीभगवान् का यह उपदेश अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। युद्ध केवल रणभूमि का नहीं होता। जीवन का प्रत्येक सङ्घर्ष एक युद्ध है। मोह और विवेक के मध्य युद्ध, भय और साहस के मध्य युद्ध, लोभ और धर्म के मध्य युद्ध निरन्तर चलता रहता है।

प्रातःकाल श्रीभगवान् का स्मरण कर लेना सरल है, किन्तु सङ्घर्ष के क्षणों में श्रीभगवान् का स्मरण होना साधना की वास्तविक सिद्धि है। द्वन्द्व की स्थिति में विवेक जागृत हो जाये, भीतर से धर्म का प्रकाश प्रकट हो जाये, यही श्रीभगवान् का स्मरण है। श्रीभगवान् स्वयं विवेकस्वरूप हैं।

"अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि"-

यह केवल सान्त्वना नहीं, अपितु परम आश्वासन है। निष्काम भाव से, समर्पणपूर्वक, धर्म की स्थापना के लिए किया गया कर्म आत्मा को पाप से मुक्त कर देता है। पाप केवल बाहरी कर्म से नहीं उत्पन्न होता; पाप का मूल कारण स्वार्थ, अहङ्कार, द्वेष और आसक्ति है।

समर्पण की अग्नि में अहङ्कार जल जाता है। कर्तापन का भाव समाप्त हो जाता है। साधक अनुभव करने लगता है कि वह केवल निमित्त है, वास्तविक कर्ता परमात्मा हैं। यही अनुभूति कर्म को अकर्म बना देती है।

"मा शुचः" शोक मत करो। भय मत करो। संशय मत करो। आत्मसमर्पण के पश्चात् शोक का कोई कारण शेष नहीं रहता। जहाँ परमात्मा का आश्रय है, वहाँ भय का स्थान नहीं रहता।

गीता जी को **"विजयशास्त्र"** कहा गया है। यह केवल युद्ध की विजय का शास्त्र नहीं, अपितु आत्मविजय का शास्त्र है। मनुष्य अपने भीतर के मोह, राग, द्वेष, भय और अहङ्कार पर विजय प्राप्त कर ले। यही गीता जी की वास्तविक विजय है।

श्रीभगवान् आगे यह भी स्पष्ट करते हैं कि इस दिव्य ज्ञान को प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख बिना विचार प्रकट नहीं करना चाहिये। श्रद्धा, विनम्रता और ग्रहणशीलता के बिना गीता का रहस्य समझ में नहीं आता। साधना का ज्ञान उसी हृदय में फलित होता है, जहाँ श्रद्धा, प्रेम और समर्पण की भूमि तैयार हो चुकी हो।

गीता का अन्तिम सन्देश अत्यन्त सरल और अत्यन्त गम्भीर है-

कर्तव्य करते रहो, अहङ्कार त्याग दो,

फल की आसक्ति छोड़ दो, प्रत्येक कर्म श्रीभगवान् को समर्पित कर दो।

समर्पण के इसी मार्ग पर चलते-चलते साधक शोक, भय और पाप से मुक्त होकर परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है।

18.67

इदं(न्) ते नातपस्काय, नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं(न्), न च मां(म्) योऽभ्यसूयति॥18.67॥

यह सर्वगुह्यतम वचन तुझे अतपस्वी को नहीं कहना चाहिए; अभक्त को कभी नहीं कहना चाहिए तथा जो सुनना नहीं चाहता (उसको) नहीं कहना चाहिए और जो मुझमें दोषदृष्टि करता है, उसको भी नहीं कहना चाहिए।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि अन्तर्मन की दिव्य अनुभूति तभी जागृत होती है, जब साधक अपने अहङ्कार से नीचे उतरता है और पूर्ण समर्पण के साथ परमात्मा की शरण ग्रहण करता है। समर्पण की उसी अवस्था में साधक अनुभव करता है कि मानो श्रीभगवान् स्वयं उसे अपने प्रेम से आलिङ्गन कर रहे हैं, यही वास्तविक ज्ञान है। यह केवल शास्त्रीय जानकारी नहीं, अपितु आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति है।

श्रीभगवान् ने पूर्व में ही स्पष्ट कहा है-
"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्।"
श्रीमद्भगवद्गीता कहती है कि श्रद्धा के बिना आत्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं। श्रद्धा जागृत होते ही साधना का द्वार खुलने लगता है। अनुभूति का यह मार्ग धीरे-धीरे अभ्यास से विकसित होता है। प्रारम्भ में साधक कुछ क्षण ही स्थिर बैठ पाता है, किन्तु नियमित अभ्यास से वही समय बढ़ता जाता है। एक अवस्था ऐसी आती है, जहाँ समय का बोध समाप्त हो जाता है। आँखें खुलने पर आश्चर्य होता है कि कितना समय व्यतीत हो गया। उस क्षण साधक स्वयं को भूल चुका होता है। साधक और श्रीभगवान् के मध्य का भेद मिटने लगता है। यही एकत्व की अनुभूति साधना का सार है।

इसी अवस्था में श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं-

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

श्रीमद्भगवद्गीता के इस उपदेश का अर्थ बाह्य कर्त्तव्यों का त्याग नहीं है। श्रीभगवान् अर्जुन को युद्धभूमि छोड़ने के लिए नहीं कहते। धनुष त्यागने का आदेश नहीं देते। धर्म का वास्तविक अर्थ यहाँ कर्त्तव्य तथा उससे जुड़े अहङ्कार और फलासक्ति से है।

अर्जुन का शोक अपने गुरुजनों, पितामहों और स्वजनों के वध से सम्बन्धित था। उन्हें भय था कि यह युद्ध पाप का कारण बनेगा। श्रीभगवान् उनके संशय का निवारण करते हुए बताते हैं कि धर्मरक्षा हेतु किया गया कर्म पाप नहीं बनता। अर्जुन का युद्ध व्यक्तिगत द्वेष या स्वार्थ के लिए नहीं था। प्रजा की रक्षा, न्याय की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिए वे युद्ध कर रहे थे।

कर्त्तव्य भाव से किया गया कर्म आत्मा को बाँधता नहीं। न्यायाधीश अपराधी को दण्ड देता है किन्तु उस दण्ड का पाप न्यायाधीश को नहीं लगता। राष्ट्ररक्षा हेतु सैनिक शत्रु का सामना करता है किन्तु वह हत्या का दोषी नहीं बनता। धर्म और कर्त्तव्य की रक्षा के लिए किया गया कर्म पवित्र हो जाता है।

दूसरे अध्याय में श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा था-

"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।"

अर्थात् युद्धभूमि में वीरगति प्राप्त होने पर स्वर्ग मिलेगा और विजय प्राप्त होने पर पृथ्वी का राज्य एवं सम्मान प्राप्त होगा। धर्मयुद्ध में किया गया पराक्रम आत्मा को पतन की ओर नहीं ले जाता।

अट्ठारहवें अध्याय में यही शिक्षा और अधिक गम्भीर रूप में प्रकट होती है। **"सर्वधर्मान्परित्यज्य"** का आशय कर्मों का परित्याग नहीं अपितु कर्मफल की आसक्ति का त्याग है। श्रीभगवान् कहते हैं- धनुष उठाओ, युद्ध करो, अपना कर्त्तव्य निभाओ; किन्तु **"मैं" और "मेरा"** के अहङ्कार से मुक्त होकर कर्म करो।

"मामेकं शरणं व्रज"

सम्पूर्ण समर्पण का सन्देश है। मनुष्य अपने अहङ्कार, भय, मोह और स्वार्थ से ऊपर उठकर परमात्मा की शरण में आ जाये। प्रत्येक कर्म ईश्वरार्पण बन जाये। यही कर्मयोग का सर्वोच्च रूप है।

श्रीभगवान् ने एक अन्य स्थान पर कहा है-

"मामनुस्मर युध्य च।"

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है, युद्ध करो किन्तु श्रीभगवान् का स्मरण करते हुए। जीवन का वास्तविक परीक्षण सङ्घर्ष के समय होता है। प्रातःकाल पूजा के समय श्रीभगवान् का स्मरण सहज है किन्तु द्वन्द्व, सङ्कट और निर्णय के क्षणों में श्रीभगवान् का स्मरण होना ही जाग्रत विवेक का लक्षण है।

श्रीभगवान् स्वयं विवेकस्वरूप हैं। मनुष्य सङ्घर्ष के मध्य भी धर्म, सत्य और कर्त्तव्य का स्मरण बनाए रखे- यही **"मामनुस्मर युध्य च"** का गूढ़ अर्थ है।

"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि"-

यह श्रीभगवान् का दिव्य आश्वासन है। निष्काम भाव से, समर्पणपूर्वक और धर्म की स्थापना के लिए किया गया कर्म आत्मा को पाप से मुक्त कर देता है। पाप का मूल कारण बाहरी कर्म नहीं अपितु भीतर का स्वार्थ, अहङ्कार और आसक्ति है।

समर्पण की अग्नि में अहङ्कार जल जाता है। साधक अनुभव करता है कि वास्तविक कर्ता परमात्मा हैं, वह केवल निमित्त है। इसी अवस्था में शोक समाप्त हो जाता है। इसी कारण श्रीभगवान् कहते हैं- **"मा शुचः"** अर्थात् शोक मत करो।

श्रीमद्भगवद्गीता केवल युद्धभूमि का शास्त्र नहीं अपितु आत्मविजय का दिव्य ग्रन्थ है। मनुष्य अपने भीतर के भय, मोह, राग, द्वेष और अहङ्कार पर विजय प्राप्त कर ले, यही वास्तविक विजय है।

जहाँ श्रद्धा नहीं, वहाँ यह ज्ञान केवल शब्द बनकर रह जाता है; जहाँ श्रद्धा जागृत हो जाती है वहाँ यही ज्ञान जीवन का प्रत्यक्ष अनुभव बन जाता है।

18.68

य इमं(म्) परमं(ङ्) गुह्यं(म्), मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं(म्) मयि परां(ङ्) कृत्वा, मामेवैष्यत्यसंशयः॥18.68॥

मुझमें पराभक्ति करके जो इस परम गोपनीय संवाद (गीताग्रन्थ) को मेरे भक्तों में कहेगा, (वह) मुझे ही प्राप्त होगा - इसमें कोई सन्देह नहीं है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं इस श्लोक में गीता ज्ञान के प्रचार और प्रसार की महिमा का अत्यन्त भावपूर्ण वर्णन करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान केवल अपने तक सीमित रखने की वस्तु नहीं है। जिस हृदय में यह ज्ञान उतरता है, वहाँ स्वाभाविक रूप से यह भावना जागृत होने लगती है कि यह दिव्य प्रकाश अन्य लोगों तक भी पहुँचे।

"य इदं परमं गुह्यम्"-

श्रीभगवान् गीता के उपदेश को **"परम गुह्य"** कहते हैं। गीता का यह ज्ञान सामान्य बौद्धिक जानकारी नहीं, अपितु आत्मा को परमात्मा से जोड़ने वाला दिव्य मार्ग है। जीवन के समस्त संशयों, दुःखों और मोह का समाधान इस ज्ञान में समाहित है।

"मद्भक्तेष्वभिधास्यति"-

जो साधक इस ज्ञान को श्रद्धापूर्वक भक्तों तक पहुँचाता है, वह केवल शब्दों का आदान-प्रदान नहीं करता, अपितु ईश्वर के कार्य में सहभागी बनता है। गीता का प्रचार किसी प्रकार का प्रदर्शन नहीं, अपितु सेवा है।

श्रीभगवान् यहाँ बाहरी प्रसिद्धि, सम्मान अथवा प्रमाणपत्र की बात नहीं करते। संसार की दृष्टि में किसी सेवा का मूल्याङ्कन हो अथवा न हो, परमात्मा के यहाँ प्रत्येक भाव अङ्कित होता है। एक छोटा सा प्रयास भी श्रीभगवान् की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

साधक किसी को प्रेमपूर्वक गीता श्रवण के लिए आमन्त्रित करे, किसी समूह में गीता का एक सन्देश भेज दे, किसी व्यक्ति को श्रीभगवान् के स्मरण की प्रेरणा दे दे, ऐसा छोटा सा प्रयास भी ईश्वरकार्य बन जाता है।

रामसेतु निर्माण की कथा में गिलहरी का उदाहरण इसी सत्य को प्रकट करता है। विशाल वानरसेना पर्वत उठा रही थी और छोटी गिलहरी भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार रेत डाल रही थी। भगवान् श्रीराम ने उसके भाव को देखा। सेवा का मूल्य कार्य की विशालता से नहीं, हृदय की श्रद्धा से निर्धारित होता है।

भक्ति का वास्तविक स्वरूप यही है कि मनुष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार श्रीभगवान् के कार्य में लग जाये। श्रीभगवान् कहते हैं- **"भक्तिं मयि परां कृत्वा"** अर्थात् जो यह कार्य परमभक्ति के साथ करता है, वही सच्चा भक्त है।

पराभक्ति का अर्थ केवल भजन, कीर्तन या पूजा तक सीमित नहीं है। परमात्मा के ज्ञान को जीवों तक पहुँचाना, लोगों के भीतर श्रद्धा जागृत करना, किसी भ्रमित आत्मा को धर्ममार्ग की ओर प्रेरित करना, यह भी सर्वोच्च भक्ति है।

श्रीभगवान् इस सेवा को साधारण कार्य नहीं मानते। इसी कारण वे कहते हैं-**"मामेवैष्यत्यसंशयः"** अर्थात् ऐसा भक्त निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

यहाँ **"असंशयः"** शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साधना के अनेक मार्गों में साधक के भीतर संशय रह सकता है कि सफलता मिलेगी या नहीं, अनुभूति होगी या नहीं; श्रीभगवान् स्वयं आश्वासन देते हैं कि जो प्रेमपूर्वक गीता के ज्ञान का प्रसार करता है, वह निश्चित रूप से परमात्मा की प्राप्ति करता है।

श्रीभगवान् को सबसे अधिक प्रिय वही है जो स्वयं साधना करे और साथ ही अन्य लोगों के जीवन में भी आध्यात्मिक प्रकाश पहुँचाने का माध्यम बने। यही सेवा और पराभक्ति का जीवित स्वरूप है।

18.69

न च तस्मान्मनुष्येषु, कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्माद्, अन्यः(फ्) प्रियतरो भुवि॥18.69॥

उसके समान मेरा अत्यन्त प्रिय कार्य करने वाला मनुष्यों में कोई भी नहीं है और इस भूमण्डल पर उसके समान मेरा दूसरा कोई प्रियतर होगा भी नहीं।

विवेचन- श्रीभगवान् श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान के प्रचारक की महिमा को और भी ऊँचे स्थान पर स्थापित करते हुये कहते हैं कि जो व्यक्ति प्रेमपूर्वक गीता के दिव्य ज्ञान को भक्तों तक पहुँचाता है, उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करने वाला कोई मनुष्य नहीं है।

भक्ति केवल बाहरी अनुष्ठानों तक सीमित नहीं है। यज्ञ, हवन, अभिषेक, जप, पूजन और विविध धार्मिक कर्म अत्यन्त पवित्र हैं, किन्तु श्रीभगवान् यहाँ एक और ऊँची बात प्रकट करते हैं। किसी एक भटके हुए मनुष्य को धर्ममार्ग की प्रेरणा देना, किसी हृदय में श्रीमद्भगवद्गीता का प्रकाश पहुँचा देना, किसी आत्मा को श्रीभगवान् की ओर मोड़ देना, यह कार्य श्रीभगवान् को अत्यन्त प्रिय है।

साधक यदि श्रद्धा के साथ श्रीमद्भगवद्गीता का एक सन्देश भी किसी तक पहुँचा दे, किसी को गीता श्रवण के लिए प्रेरित कर दे, किसी के जीवन में आध्यात्मिक जागरण का कारण बन जाये तो वह ईश्वरकार्य में सहभागी बन जाता है।

श्रीभगवान् **"प्रियकृत्तमः"** शब्द का प्रयोग करते हैं अर्थात् सबसे अधिक प्रिय कार्य करने वाला। संसार की दृष्टि में यह कार्य छोटा दिखाई दे सकता है किन्तु श्रीभगवान् की दृष्टि में यह सर्वोच्च सेवा बन जाता है।

"भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि"-

श्रीभगवान् केवल वर्तमान की बात नहीं करते, अपितु भविष्य के लिए भी घोषणा करते हैं कि पृथ्वी पर उससे बढ़कर मेरा प्रिय कोई नहीं होगा। यह श्रीभगवान् का दिव्य आश्वासन है।

गीता का ज्ञान केवल पढ़ने के लिये नहीं अपितु बाँटने के लिये है। दीपक स्वयं जलता है और दूसरों को भी प्रकाश देता है। उसी प्रकार सच्चा साधक स्वयं साधना करता है और साथ ही अन्य लोगों के जीवन में भी आध्यात्मिक ज्योति प्रज्वलित करने का प्रयास करता है।

18.70

अध्येष्यते च य इमं (न्), धर्म्यं (म्) संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहम्, इष्टः (स्) स्यामिति मे मतिः॥18.70॥

जो मनुष्य हम दोनों के इस धर्ममय संवाद का अध्ययन करेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा - ऐसा मेरा मत है।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि जो साधक श्रद्धा और भक्ति के साथ श्रीमद्भगवद्गीता के इस दिव्य संवाद का अध्ययन करता है, वह ज्ञानयज्ञ करता है। गीता का पठन केवल शब्दों का उच्चारण नहीं, अपितु आत्मा को परमात्मा की ओर ले जाने वाला पवित्र यज्ञ है।

सामान्य यज्ञों में बाहरी सामग्री अर्पित की जाती है परन्तु ज्ञानयज्ञ में मनुष्य अपना अज्ञान, अहङ्कार और मोह समर्पित करता है। यही कारण है कि श्रीभगवान् इस ज्ञानयज्ञ को अत्यन्त श्रेष्ठ मानते हैं।

गीता का श्रद्धापूर्वक अध्ययन करने वाला साधक श्रीभगवान् को प्रिय हो जाता है। उसे पृथक रूप से किसी विशेष फल की कामना करने की आवश्यकता नहीं रहती। निष्काम भाव से किया गया गीता-पाठ अपने आप में महान साधना बन जाता है।

श्रीभगवान् सङ्केत देते हैं कि परमात्मा के नियम अचूक हैं। आम के वृक्ष पर आम ही लगते हैं। उसी प्रकार श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान के बीज से आध्यात्मिक शान्ति, विवेक और कृपा का फल अवश्य प्राप्त होता है।

गीता का पठन ही नहीं, उसका श्रवण भी अत्यन्त पुण्यदायी है। श्रद्धा के साथ सुन लेने मात्र से भी साधक के भीतर परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। श्रीभगवान् का सन्देश हृदय में प्रवेश करते ही जीवन को नई दिशा देने लगता है।

18.71

श्रद्धावाननसूयश्च, शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः(श्)शुभाँल्लोकान्, प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥18.71॥

श्रद्धावान् और दोषदृष्टि से रहित जो मनुष्य इस (गीता-ग्रन्थ) को सुन भी लेगा, वह भी शरीर छूटने पर पुण्यकारियों के शुभ लोकों को प्राप्त हो जायगा।

विवेचन- श्रीभगवान् कहते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता का श्रवण करने वाला मनुष्य पापों से मुक्त होकर पुण्यात्माओं के श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता का श्रवण स्वयं एक महान ज्ञानयज्ञ बन जाता है।

"अनसूयः" का अर्थ है- दोषदृष्टि से रहित।
श्रीमद्भगवद्गीता के प्रति संशय, उपहास या तिरस्कार का भाव न हो। सरल हृदय से, श्रद्धा के साथ किया गया श्रवण आत्मा को पवित्र करने लगता है।

घर में श्रद्धापूर्वक गीता पाठ होने का प्रभाव केवल पाठ करने वाले तक सीमित नहीं रहता। परिवार के अन्य सदस्य, बालक, वृद्ध अथवा आसपास उपस्थित लोग प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उस दिव्य ध्वनि को सुनते हैं। गीता के शब्द वातावरण को पवित्र और

चेतना को शान्त करने लगते हैं।

यज्ञ की अग्नि और औषधियुक्त धुएँ से जिस प्रकार वातावरण शुद्ध होता है उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता पाठ से घर का आध्यात्मिक वातावरण पवित्र हो जाता है। जहाँ नियमित रूप से गीता का श्रवण और पाठ होता है वहाँ शान्ति, सात्त्विकता और शुभ संस्कारों का प्रवाह बढ़ने लगता है।

18.72

कच्चिदेतच्छ्रुतं(म्) पार्थ, त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः(फ्), प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥18.72॥

हे पृथानन्दन ! क्या तुमने एकाग्र-चित्त से इसको सुना? (और) हे धनञ्जय! क्या तुम्हारा अज्ञान से उत्पन्न मोह नष्ट हुआ ?

विवेचन- श्रीभगवान् अर्जुन से अत्यन्त करुणा और गम्भीरता के साथ पूछते हैं कि हे पार्थ! क्या तुमने श्रीमद्भगवद्गीता ज्ञान को एकाग्र चित्त से सुना? केवल शब्द सुन लेना पर्याप्त नहीं अपितु पूर्ण मन, बुद्धि और श्रद्धा के साथ ग्रहण करना आवश्यक है।

श्रवण के भी दो प्रकार होते हैं। एक श्रवण वह है जहाँ मन इधर-उधर भटकता रहता है और शब्द केवल कानों तक पहुँचते हैं। दूसरा श्रवण वह है जहाँ साधक सम्पूर्ण एकाग्रता और समर्पण के साथ सुनता है। ऐसा श्रवण हृदय में उतर जाता है और जीवन को बदल देता है।

श्रीभगवान् सङ्केत करते हैं कि गीता का वास्तविक फल मोह और अज्ञान का नाश है। अर्जुन के भीतर जो भ्रम, शोक और मोह उत्पन्न हुआ था, वह ज्ञान के प्रकाश से समाप्त हो जाना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीता केवल सुनने का विषय नहीं, अपितु चेतना को जागृत करने वाला दिव्य उपदेश है। एकाग्रता, श्रद्धा और मनन के साथ किया गया श्रवण साधक के भीतर विवेक का प्रकाश उत्पन्न करता है और जीवन के संशयों को दूर कर देता है।

18.73

अर्जुन उवाच
नष्टो मोहः(स्) स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः(ख्), करिष्ये वचनं(न्) तव॥18.73॥

अर्जुन बोले - हे अच्युत ! आपकी कृपा से (मेरा) मोह नष्ट हो गया है (और) मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। (मैं) सन्देह रहित होकर स्थित हूँ। (अब मैं) आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।

विवेचन- यह श्लोक अर्जुन के आन्तरिक परिवर्तन की घोषणा है। सम्पूर्ण श्रीमद्भगवद्गीता उपदेश सुनने के पश्चात् अर्जुन कहते हैं कि मेरा मोह नष्ट हो गया, मेरी स्मृति लौट आई। यहाँ स्मृति का अर्थ केवल याददाश्त नहीं अपितु आत्मबोध, विवेक और सत्य की पहचान है।

मोह मनुष्य की बुद्धि पर धूल की भाँति आवरण डाल देता है। सत्य सामने होते हुए भी दिखायी नहीं देता। ज्ञानरूपी प्रकाश से वही आवरण हट जाता है और आत्मा का स्वाभाविक विवेक पुनः जागृत हो जाता है। अर्जुन के भीतर कोई नई बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई; जो सत्य पहले से उपस्थित था, वही पुनः प्रकट हो गया।

"त्वत्प्रसादान्मयाच्युत"-

अर्जुन स्वीकार करते हैं कि यह परिवर्तन श्रीभगवान् की कृपा से सम्भव हुआ।

"अच्युत" अर्थात् जो कभी अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता जिसे कोई डिगा नहीं सकता। अर्जुन अब उसी स्थिर सत्य का आश्रय ग्रहण कर चुके हैं।

"स्थितोऽस्मि गतसन्देहः"-

अब मैं स्थिर हूँ, मेरे समस्त संशय समाप्त हो गए हैं। पहले अर्जुन की बुद्धि द्वन्द्व में भटक रही थी- क्या करूँ, क्या न करूँ। श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञान ने उन्हें निर्णय की स्पष्टता और अन्तर्मन की स्थिरता प्रदान कर दी।

"करिष्ये वचनं तव"-

अब मैं वही करूँगा, जो आप कहेंगे। यह केवल आज्ञापालन नहीं अपितु पूर्ण समर्पण की अवस्था है। अर्जुन ने अपने जीवन की लगाम श्रीभगवान् को सौंप दी।

18.74

सञ्जय उवाच
इत्यहं(म्) वासुदेवस्य, पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषम्, अद्भुतं(म्) रोमहर्षणम्॥18.74॥

सञ्जय बोले - इस प्रकार मैंने भगवान् वासुदेव और महात्मा पृथानन्दन अर्जुन का यह रोमाञ्चित करने वाला अद्भुत संवाद सुना।

विवेचन- सञ्जय इस दिव्य संवाद का वर्णन करते हुए अर्जुन को **"महात्मा"** कहकर सम्बोधित करते हैं। सञ्जय के लिए अर्जुन केवल एक योद्धा नहीं रहे; वह आत्मजागरण की अवस्था को प्राप्त साधक बन चुके थे। महात्मा वही होता है, जिसने अपने सीमित अहङ्कार से ऊपर उठकर सत्य, विवेक और समर्पण को प्राप्त कर लिया हो।

अर्जुन ने केवल युद्धभूमि का सङ्घर्ष नहीं देखा, अपितु अपने भीतर मृत्यु से जीवन तक की यात्रा का अनुभव किया। प्रारम्भ में उनका गाण्डीव हाथ से छूट गया था। क्षत्रिय के लिए शस्त्र का गिर जाना ही मानो आन्तरिक पराजय और मृत्यु के समान था। मोह, शोक और भ्रम ने उनकी शक्ति को ढक लिया था।

श्रीमद्भगवद्गीता के ज्ञान के पश्चात् वही अर्जुन पुनः उठ खड़े हुये। उनके हाथों में शस्त्र लौट आया, बुद्धि स्थिर हो गयी और जीवन का उद्देश्य स्पष्ट हो गया। यही आन्तरिक पुनर्जन्म है।

अर्जुन ने अहङ्कार से विनम्रता तक, संशय से श्रद्धा तक, विषाद से विवेक तक और अज्ञान से आत्मज्ञान तक की यात्रा पूर्ण की। यही परिवर्तन उन्हें महात्मा बनाता है।

सञ्जय इस संवाद को **"अद्भुत" और "रोमहर्षण"** कहते हैं। यह केवल दो व्यक्तियों का वार्तालाप नहीं था; यह मानवता के इतिहास में आत्मा और परमात्मा के मध्य घटित सर्वोच्च संवाद था। इस ज्ञान का श्रवण स्वयं सञ्जय के लिए भी अलौकिक अनुभव बन गया।

सञ्जय अपने सौभाग्य का श्रेय वेदव्यास जी की कृपा को देते हैं। महर्षि वेदव्यास के आशीर्वाद से ही उन्हें इस दिव्य संवाद को सुनने और संसार तक पहुँचाने का अवसर प्राप्त हुआ। यही गुरु कृपा का महत्त्व है, दिव्य सत्य का दर्शन भी कृपा से ही सम्भव होता है।

18.75

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्, एतद् गुह्यमहं(म्) परम्।
योगं(म्) योगेश्वरात्कृष्णात्, साक्षात्कथयतः(स्) स्वयम्॥75॥

व्यासजी की कृपा से मैंने स्वयं इस परम गोपनीय योग (गीता-ग्रन्थ) को कहते हुए साक्षात् योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से सुना है।

विवेचन- सञ्जय अत्यन्त भावविभोर होकर कहते हैं कि महर्षि वेदव्यास की कृपा से प्राप्त दिव्यदृष्टि के कारण उन्हें स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से निकला यह परम गुह्य योग प्रत्यक्ष सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

सञ्जय केवल श्रोता नहीं थे अपितु साक्षी थे। यही साक्षीभाव साधना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। मनुष्य जब भीतर से देखने लगता है तब साधारण श्रवण भी आध्यात्मिक अनुभव में परिवर्तित हो जाता है।

सञ्जय के जीवन में यही घटना घटती है। श्रीमद्भगवद्गीता का ज्ञान सुनते-सुनते उनका अन्तःकरण भी रूपान्तरित होने लगता है। केवल अर्जुन ही नहीं अपितु यह दिव्य संवाद सुनने वाले सञ्जय भी आत्मिक आनन्द और महात्मभाव को स्पर्श करने लगते हैं।

श्रवण की शक्ति अत्यन्त अद्भुत है। मन्दिर की घण्टी का एक नाद, भजन का एक स्वर, श्रीमद्भगवद्गीता का एक श्लोक सजगता और श्रद्धा से सुना जाये तो मन के भीतर गहरा परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है।

सञ्जय का हृदय उसी दिव्य आनन्द से भर उठा था। योगेश्वर श्रीकृष्ण और अर्जुन के मध्य घटित यह परम रहस्यमय संवाद उनके लिए केवल कथा नहीं रहा; वह प्रत्यक्ष अनुभूति बन गया। उसी आनन्द और विस्मय से अभिभूत होकर वे धृतराष्ट्र के सम्मुख इस अद्भुत अनुभव का वर्णन करते हैं।

18.76

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य, संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः(फ्) पुण्यं(म्), हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥18.76॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस पवित्र और अद्भुत संवाद को याद कर-करके (मैं) बार-बार हर्षित हो रहा हूँ।

विवेचन- सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि हे राजन्! श्रीभगवान् और अर्जुन के मध्य घटित इस अद्भुत, पवित्र और कल्याणकारी संवाद का स्मरण करते-करते मैं बार-बार हर्ष से भर उठता हूँ।

यह केवल सामान्य प्रसन्नता नहीं है। यह आत्मा के भीतर जागृत होने वाला दिव्य आनन्द है, जहाँ शब्द छोटे पड़ जाते हैं और अनुभूति मौन बन जाती है। सञ्जय बार-बार उसी संवाद को स्मरण करते हैं और प्रत्येक स्मरण उनके भीतर नये आनन्द की तरङ्ग उत्पन्न कर देता है।

आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रायः शब्दों से परे होती हैं। हृदय जब गहराई से स्पर्शित होता है तब वाणी रुक जाती है और भाव स्वयं प्रकट होने लगते हैं। आँखों के आँसू, शरीर का रोमाञ्च और भीतर का कम्पन- ये सब उस आनन्द की अभिव्यक्तियाँ हैं जिन्हें शब्द पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सकते।

सञ्जय के भीतर भी यही स्थिति उत्पन्न हो रही थी। गीता का यह दिव्य संवाद केवल कथा न रहकर उनके लिए प्रत्यक्ष अनुभूति बन गया था। स्मरण मात्र से उनका अन्तःकरण आनन्द, विस्मय और भक्ति से भर उठता था। ऐसा प्रतीत होता है मानो उनका मन भीतर ही भीतर नृत्य कर रहा हो और चेतना श्रीभगवान् के दिव्य रस में डूब गई हो।

18.77

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य, रूपमत्यद्भुतं(म्) हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्, हृष्यामि च पुनः(फ्) पुनः॥18.77॥

जहाँ योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण हैं (और) जहाँ गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हैं, वहाँ ही श्री, विजय, विभूति (और) अचल नीति है - (ऐसा) मेरा मत है।

विवेचन- सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के उस अत्यन्त अद्भुत, अलौकिक और विराट स्वरूप का बार-बार स्मरण करते ही मेरा हृदय महान् विस्मय और आनन्द से भर उठता है।

यह केवल किसी दृश्य का स्मरण नहीं है। यह उस दिव्य अनुभूति का पुनर्जागरण है, जिसने सञ्जय की चेतना को भीतर तक परिवर्तित कर दिया। विश्वरूप के दर्शन ने उन्हें यह अनुभव करा दिया कि सम्पूर्ण सृष्टि उसी परमात्मा में स्थित है।

"विस्मयो मे महान्"-

सञ्जय के भीतर ऐसा आश्चर्य उत्पन्न हुआ, जिसे शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं। जहाँ परम सत्य का स्पर्श होता है, वहाँ बुद्धि मौन हो जाती है और हृदय केवल आनन्द में डूब जाता है।

"हृष्यामि च पुनः पुनः"-

उस स्मरण से सञ्जय बार-बार आनन्दित हो उठते हैं। आध्यात्मिक आनन्द की यही विशेषता है कि वह क्षणिक नहीं होता। स्मरण मात्र से वही दिव्य रस पुनः जागृत हो जाता है।

सञ्जय की अवस्था ऐसी हो चुकी थी कि वे अपने अनुभव को पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पा रहे थे। भीतर आनन्द का ज्वार उठ रहा था, किन्तु शब्द सीमित पड़ रहे थे। यही आत्मानुभूति की विशेषता है कि जहाँ अनुभव गहरा होता है, वहाँ वाणी स्वतः मौन होने लगती है।

18.78

यत्र योगेश्वरः(ख्) कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिः(र्), ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥18.78॥

विवेचन- यह श्लोक केवल महाभारत युद्ध का निष्कर्ष नहीं अपितु सम्पूर्ण जीवन के लिए सनातन सत्य है। जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण का विवेक, मार्गदर्शन और दिव्य चेतना उपस्थित हो तथा जहाँ अर्जुन के समान जागृत, साहसी और कर्मशील पुरुषार्थ हो, वहाँ विजय निश्चित होती है।

केवल पराक्रम पर्याप्त नहीं होता। दिशाहीन शक्ति विनाश का कारण बन सकती है। अर्जुन के हाथ में धनुष था श्रीमद्भगवद्गीता के प्रारम्भ में परन्तु वही धनुष नीचे गिर गया। मोह, शोक और भ्रम ने उनके पराक्रम को निष्प्राण बना दिया था।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को केवल युद्ध करना नहीं सिखाया; उन्होंने उनके भीतर विवेक, समत्व, श्रद्धा और आत्मबल को जागृत किया। यही कारण है कि "धनुर्धर पार्थ" का अर्थ केवल शस्त्र धारण करने वाला योद्धा नहीं अपितु जाग्रत चेतना के साथ कर्म करने वाला साधक है।

जीवन के प्रत्येक कार्य के आरम्भ में श्रीभगवान् का स्मरण करना अत्यन्त आवश्यक है। स्मरण केवल औपचारिक प्रार्थना नहीं अपितु भीतर के विवेक को जागृत करने की प्रक्रिया है। मनुष्य जब श्रीभगवान् का स्मरण करके कर्म आरम्भ करता है तब उसका कार्य केवल व्यक्तिगत प्रयास नहीं रह जाता; उसमें दिव्यता का स्पर्श जुड़ जाता है।

"तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिः"-

विवेक और पुरुषार्थ का सङ्गम होने पर वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य, स्थिर नीति और कल्याण स्वतः उपस्थित हो जाते हैं। यह केवल बाहरी सफलता की बात नहीं अपितु आत्मविजय का सङ्केत है।

श्रीमद्भगवद्गीता की यात्रा विषाद से विजय तक की यात्रा है। अर्जुन निराशा, मोह और भ्रम से उठकर समर्पण, साहस और आत्मविश्वास तक पहुँचे, यही यात्रा प्रत्येक मनुष्य कर सकता है। प्रत्येक साधक के भीतर अर्जुन बनने की सम्भावना उपस्थित है।

साधना में प्रयास आवश्यक है। केवल इच्छा करने से परिवर्तन नहीं होता। थोड़ी तपस्या, थोड़ी नियमितता, थोड़ा आत्मनिरीक्षण और

थोड़ा साहस आवश्यक होता है। अहङ्कार का विसर्जन होते ही भीतर श्रीभगवान् का सृजन आरम्भ हो जाता है।

विसर्जन का अर्थ समाप्त होना नहीं अपितु विस्तार में प्रवेश करना है। सीमित **"मैं"** मिटते ही चेतना विराटता का अनुभव करने लगती है। यही आध्यात्मिक जन्म है।

अर्जुन और सञ्जय दोनों की अवस्था इस अन्तिम चरण में गद्गद हो चुकी थी। अर्जुन के भीतर पराक्रम जाग उठा था और सञ्जय दिव्य आनन्द में डूब चुके थे। ज्ञान अब केवल शब्द नहीं रहा; वह चेतना बन चुका था।

श्रीमद्भगवद्गीता का वास्तविक फल जीवन में दिखाई देना चाहिये। क्रोध घट रहा है या नहीं, समत्व बढ़ रहा है या नहीं, अहङ्कार कम हो रहा है या नहीं, श्रद्धा गहरी हो रही है या नहीं, यही साधना की कसौटी है।

श्रीभगवान् ने **"प्रसाद"** की अवस्था का वर्णन किया है। अन्तर्मन की प्रसन्नता ही आध्यात्मिकता का वास्तविक फल है। बाहरी परिस्थितियाँ जैसी भी हों, भीतर स्थिर आनन्द बना रहे, यही श्रीमद्भगवद्गीता का वरदान है।

साधना का अन्तिम उद्देश्य मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करना भी है। जीवन के अन्तिम क्षणों में भी यदि श्रीभगवान् का स्मरण जाग्रत रहे तो वही परम विजय है।

मानव-जीवन अत्यन्त दुर्लभ अवसर है। इसी देह में आत्मबोध, साधना और परमात्मा की प्राप्ति सम्भव है। यही कारण है कि इस मार्ग पर रुकना नहीं चाहिये। गीता जी की यात्रा किसी अध्याय के समाप्त होने से समाप्त नहीं होती; वास्तविक यात्रा तो जीवन में उसके अवतरण से आरम्भ होती है।

"हरये नमः, हरये नमः, हरये नमः।"

हरिनाम सङ्कीर्तन के साथ विवेचन सत्र का समापन हुआ।

प्रश्नोत्तर सत्र

प्रश्नकर्ता- निशा गर्ग दीदी

प्रश्न- हमने गीताजी के सभी अध्याय सीख लिये और कण्ठस्थ भी कर रहे हैं, जीवन को सफल बनाने हेतु और क्या करना चाहिये?

उत्तर- अन्य कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है। एक ही गुरु और एक ही नैया, वह हैं गीता मैया, उस नैया में बैठ गये तो अन्य नाव की आवश्यकता ही नहीं है। पूर्ण विश्वास के साथ गीता मैया की नैया में बैठ गये तो पार जाना ही है, अन्यत्र भटकने की आवश्यकता ही नहीं है।

प्रश्नकर्ता- रमेश प्रसाद नामदेव भैया

प्रश्न- इस अध्याय के सत्तरवें श्लोक में आया है कि महात्मा सञ्जय श्रीभगवान् के दिव्य स्वरूप का स्मरण कर रहे हैं, हम भी किसी द्वन्द्व की स्थित से निकलने हेतु उसी तरह से स्मरण कर सकते हैं?

उत्तर- महात्मा सञ्जय विराट स्वरूप के दर्शन का स्मरण कर विस्मित हो रहे हैं, हमें तो श्रीभगवान् के मनोहर रूप का दर्शन कर अपना कल्याण करना है। ग्यारहवें अध्याय में विराट विश्वरूप का दर्शन प्राप्त करने के बाद भयभीत होकर स्वयं अर्जुन ने भी श्रीभगवान् के मनोहारी मानवी रूप के पुनः दर्शन हेतु आग्रह किया है।

प्रश्नकर्ता- गायत्री दीदी

प्रश्न- गीताजी के श्लोकों को यदि श्रद्धा से बोलें तो शुद्धता की क्या आवश्यकता है?

उत्तर- श्रद्धा से यदि गीताजी के श्लोकों को बिना पढ़े उन पर क्रमशः मात्र अङ्गुली भी घुमा दें तो कल्याणकारी है। शुद्ध पठन से पठन का लाभ बहुगुणित हो जाता है। अनुसार, विसर्ग, दीर्घ, ह्रस्व का ध्यान रखकर जब हम चरणबद्घ और लय में पठन करते हैं तो वह प्राणायाम बन जाता है और अत्यन्त प्रभावकारी हो जाता है

प्रश्नकर्ता- अनघा दीदी

प्रश्न- किसी के अन्त समय में कौन सा अध्याय अधिक कल्याणकारी है।

उत्तर- गीताजी का कोई भी श्लोक या अध्याय कल्याणकारी हैं। हम कर सकते हैं तो प्राणोत्सर्ग के पूर्व आठवें अध्याय का पाठ करना चाहिये और प्राणोत्सर्ग के पश्चात पन्वेंद्रहवें या बारहवें अध्याय का पाठ कर सकते हैं।

प्रश्नकर्ता- पूनम दीदी

प्रश्न- कर्म आवश्यक भी है और कर्म बन्धन भी है फिर मुक्ति कैसे प्राप्त हो? क्या किसी को मुक्ति मिली है तो बिना कर्म किये मिली है।

उत्तर- आपके सारे प्रश्नों का उत्तर एक ही है। कर्म को अकर्म बनाओ। अकर्म बनाने का अर्थ है कि आप जो कुछ भी करें श्रीभगवान का कार्य मान कर करें और जो भी फल श्रीभगवान से प्राप्त हो उसे सहर्ष स्वीकार करें। मानव के लिए कर्म का त्याग सम्भव नहीं है। हम सोते हुए, जागते हुए, अनायास कर्म करते ही रहते हैं। भावना बदल कर हम कर्म को अकर्म बना सकते हैं। रसोई बनाओ तो मात्र अपने परिवार के भरण-पोषण का विचार रखना स्वार्थ है, वहीं यह विचार हो कि श्रीभगवान के लिए भोग बना रहे हैं और फिर सभी को प्रसाद के रूप में बांटना परमार्थ हो जाता है और हमारा कर्म, अकर्म हो जाता है।

ॐश्रीकृषणार्पणमस्तु

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां(म्) योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नाम अष्टादशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार ॐ तत् सत् - इन भगवन्नामों के उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषदरूप श्रीकृष्णार्जुनसंवाद में 'मोक्षसन्यासयोग' नामक अठारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ।

हमें विश्वास है कि आपको विवेचन की रचना पढ़कर अच्छा लगा होगा। कृपया नीचे दिए लिंक का उपयोग करके हमें अपनी प्रतिक्रिया दीजिए।

https://vivechan.learngeeta.com/feedback/

विवेचन-सार आपने पढ़ा, धन्यवाद!
हम सब गीता सेवी, अनन्य भाव से प्रयास करते हैं कि विवेचन के अंश आप तक शुद्ध वर्तनी में पहुंचे। इसके बाद भी वर्तनी या भाषा संबंधी किन्हीं त्रुटियों के लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं।

जय श्री कृष्ण !
संकलन: गीता परिवार - रचनात्मक लेखन विभाग

हर घर गीता, हर कर गीता!

Let's come together with the motto of Geeta Pariwar, and gift our Geeta Classes to all our Family, friends & acquaintances

https://gift.learngeeta.com/

गीता परिवार ने एक नवीन पहल की है। अब आप पूर्व में सञ्चालित हुए सभी विवेचनों कि यूट्यूब विडियो एवं पीडीऍफ़ को देख एवं पढ़ सकते हैं। कृपया नीचे दी गयी लिंक का उपयोग करे।

https://vivechan.learngeeta.com/

|| गीता पढ़े, पढ़ायें, जीवन में लाये ||

||ॐ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ||